हीगेल का भारत

कुछ प्रतिक्रियाएँ

नंदकिशोर आचार्य

कुमारस्वामी जैसे अनेक विचारकों का मानना है कि किसी भी समाज या सभ्यता के वास्तविक मर्म को एक बहिर्वासी की हैसियत से नहीं समझा जा सकता। उसके लिए हमें उसका अंत:वासी होना होगा। क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस जैसे मानवशास्त्री का भी यही ख़याल है। वे मानते हैं कि जनजातियों के अध्ययन के लिए अध्येता का उन्हीं में से एक हो कर रहना आवश्यक है। इसका कारण शायद यह रहा हो कि जब हम किसी बाहरी व्यक्ति की तरह देखते हैं तो हमारी अपनी सांस्कृतिक और बौद्धिक पूर्व-धारणाएँ हमारे विश्लेषण की प्रक्रिया और इसीलिए निष्कर्षों को भी प्रभावित करने लगती हैं, और हम उस सभ्यता के विकास की पृष्ठभूमि में सक्रिय कारणों और परिस्थिति को अपने पूर्वग्रहों के कारण सही तौर पर नहीं समझ पाते। लेकिन, दूसरी ओर अपने को समझने के लिए यह भी उपयोगी होता है कि हम बहिर्वासियों की हमारे बारे में समझ को भी जानें, ताकि हमें अपनी पूर्व-धारणाओं से अलग होकर अपने को समझने में मदद मिल सके। इस दृष्टि से आकाश सिंह राठौड़ तथा विभिन्न महापात्र द्वारा सम्पादित ग्रंथ *हिगेल्ज़ इण्डिया* एक अध्ययन-योग्य पुस्तक हो जाती है। इसका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि उन्होंने न केवल भारत के बारे में हीगेल के अध्ययन का अपना आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, बल्कि हीगेल के भारत-संबंधी लेखन को भी संगृहीत कर दिया है ताकि अन्य अध्येता उनका स्वतंत्र अध्ययन कर अपने निष्कर्षों तक पहुँच सकें।

भारतीय समाज और सभ्यता के बारे में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों तक हुए युरोपीय अध्ययनों की एक सीमा तो सामग्री संबंधी अपर्याप्तता ही है, क्योंकि बहुत-सी सामग्री

तो परवर्ती खोजों में सामने आयी है। दूसरी सीमा यह है कि ये अध्ययन अधिकांशत: मूलभाषा को जाने बिना केवल युरोपीय भाषाओं में अनूदित सामग्री के आधार पर किये गये हैं, जिसका एक परिणाम यह भी होता है कि अध्येता उस सामग्री को अनुवादक के नज़रिये से देख रहा होता है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि ये अध्ययन क्योंकि विदेशी भाषा में प्रस्तुत किये जाते हैं जिसके कारण अनुवाद की भाषा में उस शब्द की अर्थ-छवि महत्त्वपूर्ण और कभी-कभी भ्रमोत्पादक भी हो जाती है। यही कारण है कि धर्म जैसा शब्द अंग्रेज़ी में 'रिलीजन' हो कर रह गया है, जिसे हम आजकल 'रिलीजियस सेक्ट' की तरह इस्तेमाल करने लगे हैं, यद्यपि 'रजोधर्म' या 'रेडियोधर्मिता' जैसे शब्द प्रयोगों में वह आज भी अपने मूल अर्थ के क़रीब है। कहना न होगा कि हीगेल का अध्ययन भी इन सीमाओं की मुश्किल से पूरा छुटकारा नहीं पा सका है।

हीगेल्स इण्डिया : अ रिइंटरप्रिटेशन विद टेक्स्ट्स
आकाश सिंह राठौड़ और रिमिना महापात्र (सम्पादक)
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,
नयी दिल्ली, 2017
मूल्य : 800 रु., पृष्ठ 324

एक और सीमा हीगेल के अपने बौद्धिक वातावरण की भी रही होगी, जिसकी ओर अपनी टिप्पणी में सम्पादक-द्वय ने भी इशारा किया है, यद्यपि वे यह मानते हैं कि उस वातावरण में आज भी अधिक अंतर नहीं पड़ा है और उसे देखते हुए तो हीगेल के पूर्वग्रह कुछ कम ही लगते हैं। सम्पादक मानते हैं कि युरोप की उपनिवेशवादी सफलताओं और उपनिवेशवाद को बौद्धिक-आध्यात्मिक समर्थन देने वाले युरोपीय वातावरण से हीगेल का प्रभावित होना स्वाभाविक था। लेकिन, तब सवाल यह उठता है कि किसी भी दार्शनिक जिज्ञासा या दर्शन-पद्धति का प्रयोजन किसी राजनीति को समर्थन देना है या उसका नीर-क्षीर विश्लेषण करना। स्पष्ट है कि दर्शन को वस्तुगत बौद्धिक प्रयास मानने वाले हीगेल यहाँ दार्शनिक होने की अपनी ही शर्त को स्वयं विस्मृत कर देते हैं। सामान्यत: माना जाता है और इस पुस्तक के सम्पादक भी इससे असहमत नहीं हैं कि भारतीय सभ्यता के प्रति जो निंदात्मक भाव हीगेल ने अपनाया, उसका एक कारण जर्मन रोमांटिसिज़म (स्वच्छंदतावाद) से उनका विरोध था और क्योंकि जर्मन रोमांटिक प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य के बहुत प्रशंसक थे, इसलिए रोमांटिसिज़म को बौद्धिक स्तर पर ख़ारिज करने के लिए हीगेल का भारत-विरोध स्वाभाविक था।

यह मानने में कोई एतराज नहीं हो सकता कि रोमांटिसिज़म को ख़ारिज करने के लिए हीगेल भारत की उस छवि का खण्डन करने का यत्न करते जो रोमांटिकों ने अपने लिए गढ़ी थी। लेकिन उसे *गीता* जैसे ग्रंथ पर केंद्रित करने की कोई ज़रूरत नहीं थी। बेहतर होता कि वे इस संदर्भ में कालिदास या *अभिज्ञान शाकुन्तल* को ख़ारिज करने का यत्न करते। यह ठीक है कि *गीता* भारत में सर्वप्रतिष्ठित ग्रंथ है, लेकिन तब उसकी उन अनेक व्याख्याओं से परिचित होना आवश्यक होता जो न केवल परस्पर भिन्न बल्कि कई बार एक-दूसरे की विरोधी भी हैं। यहाँ *गीता* की चर्चा करते हुए सम्पादक भी कहीं इस बात से सहमत नज़र आते हैं कि *गीता* की रचना बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने और ब्राह्मणवादी पुनरुत्थान के उद्देश्य से की गयी थी। लेकिन, यह एक कल्पना ही अधिक लगती है क्योंकि *गीता* से भी बहुत पहले उपनिषद्-साहित्य में भी समान विचार मिल जाते हैं और वेदांत की विभिन्न

शाखाओं के दर्शनों में *गीता* के साथ-साथ *ब्रह्मसूत्र* और 'उपनिषदों' को भी प्रस्थानत्रयी में सम्मिलित किया गया है। भारत में विभिन्न उपासना-पंथ और दार्शनिक सम्प्रदाय साथ-साथ फलते-फूलते रहे हैं और स्वयं आस्तिक दर्शनों में भी मत-वैभिन्न्य तथा बहसें चलती रही हैं। ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि बौद्ध धर्म की वजह से किसी अन्य पंथ को कोई ख़तरा या डर महसूस हुआ हो। स्वयं बुद्ध के समय ही लगभग चौंसठ दार्शनिक सम्प्रदायों के होने का उल्लेख मिलता है। सम्पादक-द्वय अपनी टिप्पणी में यह तो स्पष्ट करते ही हैं कि *गीता* पर टिप्पणी करते समय हीगेल अपने अज्ञान और अहंकार का पूरा प्रदर्शन कर देते हैं और जब वे गीता में काव्य-दृष्टि से बार-बार पुनरुक्ति-दोष का ज़िक्र करते हैं तो बड़ी आसानी से यह भूल जाते हैं कि सभी वाचिक परम्पराओं में पुनरुक्ति एक सामान्य लक्षण है, जो होमर में भी उसी तरह पाई जाती है। यहाँ यह भी अनेदखा नहीं किया जा सकता कि हीगेल के अपने लेखन में भी पुनरुक्ति का अभाव नहीं है। सम्पादकों का मानना है कि यह हीगेल के लिए उनकी पद्धति में ही अंतर्भूत था, क्योंकि बार-बार विभिन्न तत्त्वों को जोड़ने के लिए उनके लिए यह करना ज़रूरी था। लेकिन, यही बात *गीता* के बारे में भी कही जा सकती है। वहाँ भी विभिन्न दार्शनिक विचारों को एक सूत्र में गूँथने की कोशिश है।

एक बड़ा भ्रम 'वर्ण' और 'जाति' दोनों को अंग्रेज़ी में 'कास्ट' कह देने से पैदा होता है। *महाभारत* के जिस अंश (*गीता*) में वर्णधर्म का ज़िक्र किया गया है, वह 'वर्ण' स्वयं *महाभारत* के भी अनुसार 'जाति' नहीं है। *महाभारत* युद्ध में द्रोण, कृष्ण और अश्वत्थामा जैसे लोगों का धर्म क्या युद्ध करना नहीं था? क्या परशुराम योद्धा होने से अपने 'धर्म' से च्युत मान लिए गये थे? और क्या अंतत: राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षि नहीं मान लिए गये थे? हाँ, यह ठीक है कि इतिहास के क्रम में वर्ण अपनी गतिशीलता खोकर जाति जैसा समझा जाने लगा, लेकिन इसका उत्तरदायित्व *गीता* की धर्म की व्याख्या पर डालना अनुचित होगा।

हीगेल भारतीय सभ्यता की आलोचना करते हुए क्षोभ प्रकट करते हैं कि भारत 'गतिहीन' और 'जड़' रहा है। हीगेल यह भी कहते हैं कि पूर्व की आत्मा राजनीतिक चेतना के शैशव में ही रही है जो स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ नहीं जान पाई। सवाल यह उठता है कि यदि द्वंद्वात्मकता हीगेल के अनुसार इतिहास का नियम है, तो ऐसा कैसे हो सकता है कि एक सभ्यता सदैव के लिए जड़ रहे! दरअसल, हीगेल की मानसिकता इतनी युरोकेंद्रित है कि उनका 'परम प्रत्यय' भी काल में जड़ हो कर देशांतर में नये रूप में विकसित होता है। इसीलिए वह पूर्व से यूनान-रोम होता हुआ आधुनिक पश्चिम में विकसित हो जाता है। इस यात्रा में मध्य-पूर्व का कोई स्थान नहीं है और यह भी पता नहीं चलता कि यहूदी धार्मिक चेतना से विकसित हुई ईसाइयत के बाद इस्लाम किस अंतर्विरोध का परिणाम रहा— चाहे वह रूमी के प्रशंसक क्यों न रहे हों! वे यह भी नहीं बताते कि क्या युरोप में प्रबुद्ध राजतंत्र के काल में भी अशोक जैसा कोई प्रबुद्ध शासक हुआ था। क्या अशोक पूर्व और वह भी भारत की ही देन नहीं था? यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हीगेल के दर्शन में अपवाद की जगह नहीं है, क्योंकि वहाँ जो कुछ धारित होता है, वह 'परम प्रत्यय' की विकासात्मक अभिव्यक्ति के अधीन है— यहाँ तक कि स्वतंत्रता की परम अभिव्यक्ति प्रशा के राष्ट्र-राज्य में सम्भव होना भी। यदि राज्य द्वारा निर्धारित कर्तव्यों के प्रति निष्ठा में ही स्वातंत्र्य अंतर्निहित है तो वर्णाश्रम जैसी किसी सामाजिक व्यवस्था में क्यों नहीं? मेरा तात्पर्य यहाँ वर्णाश्रम का समर्थन करना नहीं — निश्चय ही अब हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है— लेकिन, द्वंद्वात्मकता के ऐतिहासिक नियम के आधार पर ही उसे भी समझने की कोशिश होनी चाहिए; अकादमिक स्तर पर हीगेलियन और मार्क्सवादी दोनों प्रकार की द्वंद्वात्मकता के परिप्रेक्ष्य में यह भी समझने की ज़रूरत है कि क्यों फिख़्टे और हीगेल को जर्मन राष्ट्रवाद का दार्शनिक माना गया और हिटलर जैसे तानाशाहों ने भी हीगेल के उन विचारों की प्रशंसा की जिनके अनुसार 'परम प्रत्यय' की चरम अभिव्यक्ति 'राष्ट्र-राज्य' में होती है।

इसी तरह कलाओं की विकास-प्रक्रिया में भी हीगेल उसे कालगत नहीं बल्कि देशांतर प्रक्रिया में घटित मानते हैं। कलाओं के विकास-क्रम में हीगेल का मंतव्य है कि पूर्वी और भारतीय कलाएँ प्रतीकात्मक और रहस्यमूलक हैं। उसकी प्रतिधारणा ग्रीक कला में मिलती है, जिसमें यथार्थवाद का प्राधान्य रहा है, और आगे चलकर इन दोनों का संश्लेषण उनके अपने युग में विकसित कला में हुआ— जो मूलत: रोमांटिक थी और भारत की प्राचीन संस्कृति-साहित्य से प्रेरित-प्रभावित थी। हीगेल के अपने समकालीन और कई मौक़ों पर उनकी मदद भी करने वाले गोएथे के विचारों और कृतित्व में जिसकी झलक देखी जा सकती है।

हीगेल के 'परम प्रत्यय' और भारतीय 'ब्रह्म' की अवधारणाओं में साम्य देखने की कोशिश सम्पादकों ने भी की है और उनके अनुसार स्वयं हीगेल भी इस ओर संकेत करते हैं। यह साम्य केवल इस अर्थ में है कि ब्रह्म की तरह 'परम-प्रत्यय' भी अपने को सृष्टि में अभिव्यक्त करता है। लेकिन, 'परम प्रत्यय' की क्रमश: एक चरम तक पहुँचने की प्रक्रिया 'ब्रह्म' की अवधारणा में नहीं है। वहाँ तो निर्जीव पदार्थ में भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है जो किसी इतिहास-क्रम की मोहताज नहीं है। यहाँ इस वक़्त की ओर संकेत करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि हीगेल की इतिहास-दृष्टि में क्रमिक विकास है, जबकि भारतीय इतिहास-दृष्टि क्रमिक ह्रास का संकेत करती है। सतयुग से कलियुग तक निरंतर पतन होता बताया गया है, विकास नहीं।

हीगेल को इस बात का श्रेय निश्चित ही दिया जाना चाहिए कि उन्होंने विश्व-प्रक्रिया की व्याख्या करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। लेकिन इस प्रयत्न में वे अपने जातीय पूर्वग्रहों और कुछ हद तक राष्ट्रवाद और सम्प्रदायवाद की सीमाओं से मुक्त नहीं हो सके। भारत का उनका अध्ययन भी, इसीलिए इन सीमाओं से प्रभावित रहा। उनके चिंतन की एक सीमा यह भी मानी जाती है कि वे अपने समय से आगे नहीं देख पाते और न ही आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया को वैसा तात्त्विक आधार दे पाते हैं, जैसा मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया को आर्थिक आधारों पर व्याख्यायित करने का प्रयत्न करके किया है। स्वतंत्रता की अवधारणा हीगेल के दर्शन में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उसकी प्रक्रिया को स्पष्ट न कर पाने और स्वतंत्रता को 'राष्ट्र-राज्य' के अधीन कर देने और राजनीति में लोकतंत्र से असहमत होने के कारण उनके विचार स्वयं अंतर्विरोधों से ग्रस्त हो जाते हैं। धर्म, कला और राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में पश्चिमी और पश्चिम में भी जर्मन दृष्टिकोण का समर्थन हीगेल की सीमा है, जिससे भारत संबंधी उनका अध्ययन भी प्रभावित है। तो क्या? हमारे लिए वह भी कुछ तो उपयोगी होगा ही।

हीगेल भारतीय सभ्यता की आलोचना करते हुए क्षोभ प्रकट करते हैं कि भारत 'गतिहीन' और 'जड़' रहा है। हीगेल यह भी कहते हैं कि पूर्व की आत्मा राजनीतिक चेतना के शैशव में ही रही है जो स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ नहीं जान पाई। सवाल यह उठता है कि यदि द्वंद्वात्मकता हीगेल के अनुसार इतिहास का नियम है, तो ऐसा कैसे हो सकता है कि एक सभ्यता सदैव के लिए जड़ रहे! दरअसल, हीगेल की मानसिकता इतनी युरोकेंद्रित है कि उनका 'परम प्रत्यय' भी काल में जड़ हो कर देशांतर में नये रूप में विकसित होता है।